भाषा में भ्रांति

प्रफुल्ल कोलख्यान

हमारा संसार विलक्षणताओं और विचित्रताओं से भरा हुआ है। एक-से-एक वनस्पति, एक-से-एक सुंदर दृश्य, पहाड़, नदियाँ, झील, वन-प्रांतर और प्राणी। इन सब की अपनी कोई-न-कोई भाषा भी होती है। एक हद तक मनुष्य उनकी भाषा को समझता भी है, लेकिन समझता अपनी ही भाषा में है। क्योंकि सिर्फ मनुष्य ही ऐसा विलक्षण प्राणी है जिसके पास अपनी विकिसत भाषाएँ और विकसित सामाजिकताएँ हैं। मनुष्य प्रत्येक स्थिति को अपनी इसी भाषा में डी-कोड कर कुछ हद तक समझ लेता है, समझ ही नहीं लेता बल्कि कई बार अपनी इस भाषिक क्षमता के बल पर वह सफलतापूर्वक भाषा के पार चले जाने की आकांक्षा को भी संभव कर लेता है। क्या हम ऐसे किसी प्राणी की कल्पना कर सकते हैं जिसके पास विकसित सामाजिकता तो हो किंतु, विकसित भाषा नहीं हो? बिल्कुल नहीं। इसके उलट ऐसे किसी प्राणी की भी कल्पना नहीं की जा सकती है जिसके पास विकसित भाषा तो हो लेकिन विकसित सामजिकता न हो। पहले कौन के विवाद में पड़े बिना यह मानना ही उचित है कि वस्तुत: सामाजिकता और भाषा का विकास साथ-साथ और एक ही प्रक्रिया के अंतर्गत होता है। भाषा को बरतनेवाले लोग इस बात को जानते हैं कि सभ्यता-संघर्ष के हर दौर में भाषा अपनी नई-नई भंगिमाओं के साथ उपस्थित होती है। इन भंगिमाओं के कारण भाषा के ढाँचे में निहित अंतर्वस्तुओं के चरित्र में नई स्फूर्त्ति, नई ऊर्जा का संचार होता है। सभ्यता संघर्ष का नया दौर हमारे समय में भी जारी है। यह बात पूरे यकीन के साथ कही जा सकती है कि यह नया दौर पिछले हर दौर से न सिर्फ अलग है, बल्कि चारित्रिकता एवं तात्त्विकता के गूढ़ अर्थों में भिन्न भी है।

भाषा को लेकर शोध करनेवाले लोग इस बात को लेकर काफी चिंतित हैं कि संसार की बहुत सारी भाषाएँ व्यवहार-च्युत हो रही हैं, वानस्पतिक और जैव-विविधताएँ नष्ट होती जा रही है। सामाजिकताओं और भाषाओं के विलोपीकरण की प्रक्रिया एक ही होती है। क्या भाषाओं और सामाजिकताओं की शरणस्थली 'गालियाँ' ही होंगी? प्रेम रंजन अनिमेष सावधान करते हैं कि 'भाषाविज्ञानी नहीं मैं/ लेकिन जाने क्यों लगता है/ किसी जुबान की धार के लिए/ लौटना होगा अपनी गालियों के पास// और हालाँकि

समाजशास्त्र उतना ही/ जानता हूँ जितना पेड़ की जड़ें/ मगर यह भी लगता है/ जब कहीं नहीं रहेंगे/ तो गालियों में ही बचे रहेंगे रिश्ते’। भाषाओं और सामाजिकताओं के विलोपीकरण के सामजिक फलितार्थ और उसके समाजशास्त्र को मिलाकर देखने पर वृहत्तर समन्वयात्मक मानवीय सभ्यता के खतरनाक चेहरे की भी हल्की-सी झलकी मिल सकती है। समन्वय जरूरी है लेकिन सभ्यताओं का इतिहास साक्षी है कि समन्वय में अंतर्मिलन से अधिक बड़ी भूमिका अतिक्रमण अदा करती रही है। भाषा की मृत्यु कविता में रघुवीर सहाय भाषा को शक्ति देने की प्रार्थना करके सामाजिकता के बचे रहने का वरदान माँगते हैं। भाषा को शक्ति देने की प्रार्थना कर सामाजिकता के बचे रहने का वरदान पा लेने के कवि के विश्वास के मर्म को समझा जा सकता है। रधुवीर सहाय प्रार्थना घर के विज्ञापनी मिजाज को भी जानते हैं, इसलिए मानते हैं कि प्रार्थनाओं के भरोसे चुप नहीं बैठा जा सकता है। संघर्ष के पथ की तलाश और कौशल का अर्जन करना होता है। भाषा के लिए वही संघर्ष कर सकता है जो सिर्फ अपनी भाषा में बोलता है--- मालिक की भाषा का एक शब्द भी नहीं। वह शास्त्रार्थ न करके शास्त्रार्थ को जीतता है, वह जानता है कि कैसे और किस शास्त्रार्थ के निषेध से शास्त्रार्थ को जीता जा सकता है। वस्तुत:, जिनके जीवन-शास्त्र अलग-अलग होते हैं उनके बीच शास्त्रार्थ, विमर्श के वस्तु की सामाजिक संवेदना को अर्थहीन बनाने, भटकाने के लिए एक प्रकार का बौद्धिक छल ही निर्मित करता है। संपन्न लोगों के विकसित जीवन-शास्त्र के बौद्धिक छल का शिकार बनता है विपन्न लोगों का विकासशील जीवन-शास्त्र। यह ठीक उसी तरह होता है जैसे विकसित देशों के अर्थशास्त्र का शिकार बनता है विकासशील देशों का अर्थशास्त्र। इस शास्त्रार्थ को शास्त्रार्थ के निषेध से ही जीता जा सकता है। यहाँ ‘भाषा’ अपने व्यापक अर्थ में वृहत्तर समन्वयात्मक मानवीय सभ्यता के अंतर्गत अपनी सामाजिकता के संदर्भों को भी प्रतिभासित करती है। हरिचरना और श्री हरिचरण के बीच बनती एवं बढ़ती हुई विषमता की भयावहता को संवेदना के स्तर पर समझना ही होगा। अंग्रेजी, हिंदी आदि ‘भाषाओं’ को संदर्भित करते हुए उससे अलग भी हरिचरना और श्री हरिचरण की ‘भाषा’ अर्थात बचे रहने के समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के भी अलग होने को ध्वनित करती है। स्वाभाविक है कि भाषा का युद्ध अपनी अर्थवाचकता में सामाजिक संघर्ष के व्यापक परिप्रेक्ष्य को भी शामिल करता है।

उदारीकरण के दौर में भ्रांतियों की फसल के लहराने का तो जैसे मौसम ही आ गया है! चारों तरफ भ्रांतियों का वर्चस्व बढ़ता जा रहा है। भ्रांतियाँ ऐसी कि एक तरफ से देखने पर जो विचारधारा, अवधारणा या क्रिया अपने रचाव में अद्‌भुत और जनहितकारी संभावनाओं से लबालब लगती है तो दूसरी तरफ से देखने पर भयावह और प्राणांतक नजर आती है। इसलिए प्रमुख सवाल तो यही उठता है कि हम कहाँ से देख रहे हैं, अर्थात हमारा अपना अवस्थान (Positionalities) क्या है। ऊपर से देखने पर उदारीकरण जितना ही सम्मोहक लगता है नीचे से देखने पर उतना ही खतरनाक लगता है। आलम यह है कि इस

खतरनाक लगने में भी थोड़ी बहुत भ्रांति की गुंजाइश बराबर बनी हुई है। मनुष्य की संघर्षशील चेतना पर विश्वास कम होने से यह भ्रांति और गाढ़ी हो जाती है। शायरों और कवियों ने सूरज के निकलने से कोहरे के आप ही छँट जाने और रोशनी की छोटी-सी रेखा के द्वारा गहन अंधकार के सीने के चाक हो जाने एवं घने-से-घने अंधकार में भी रोशनी की रेखा को बुझा नहीं पाने की क्षमता की बात को अनेक प्रकार से और अनेक बार अभिव्यक्त किया है। यह सूरज, यह रोशनी ही तो है मनुष्य की संघर्षशील चेतना। इस बात पर हमारी पूर्ण आस्था है कि सूरज एक दिन कोहरे का छाँट देगा, भ्रांतियों का निराकरण कर देगा। इतिहास से इसके प्रमाण मिलते हैं कि जब कभी आकाश सिकुड़ता है, सबसे पहले सूरज की हत्या होती है; लेकिन धरती ऊर्बरा है वह नये आकाश को आकार देती है हर बार और उछाल देती है एक नया सूरज। फ़ैज को याद करें तो 'ये: रातें जब अट जायेंगी/ सौ रास्ते इन से फूटेंगे/ तुम दिल को सँभालो जिसमें अभी/ सौ तरह के नश्तर टूटेंगे'।

आधुनिकता की अवधारणा दिनानुदिन जटिलतर होती गई है। आधुनिकता की कई महत्त्वपूर्ण परियोजनाओं के अधूरे रह जाने के कारण भी आधुनिकता की अवधारणा अधिक जटिल और चोटिल होती चली गई है। इसकी जटिलताएँ जीवन और यथार्थ में बढ़ती हुई कुहेलिकाओं के प्रभाव से प्राणरस पाती हैं। इधर विकास के नये मुहावरे के कारण जो अर्थाभास जीवन में रच-बस गया है इससे भी आधुनिकता के भावबोध में उलझाव पैदा हुआ है। उत्तर-आधुनिकता के नाना उद्घोषों के कारण विमर्श के वातावरण, भाषा और शब्दों के अर्थाचरण तथा अर्थान्विति में गुणात्मक परिवर्तन के घटित होने से भी आधुनिकता की जटिलताएँ बढ़ी हैं। समस्या सिर्फ भाषिक संरचनाओं के लोप से ही जुड़ी हुई नहीं हैं, बल्कि एक गहरे अर्थ में भाषा की अर्थवाचकताओं, उसकी वास्तविक अंतर्वस्तुओं के लोप के व्याकरण को भी समझना होगा। एक ही प्रक्रिया के परिणमस्वरूप एक ओर भाषिक संरचनाएँ लुप्त रही हैं तो दूसरी ओर भाषा की अर्थवाचकताओं, उसकी वास्तविक अंतर्वस्तुओं में भी भारी टकराव और बदलाव हो रहे हैं। कविता भाषा का सबसे संवेदनशील आचरण होती है। इसलिए कविता में अर्थ बहुलताओं और वैविध्यों की भरपूर गुंजाइश भी होती है। कविता का वैशिष्ट्य अर्थ बहुलताओं की संभावनाओं से संपोषित होता है; जल में कुंभ, कुंभ में जल की तरह कविता में भाषा और भाषा में कविता होती है। भाषा में होकर भी कविता भाषा से सीमित नहीं होती है। भाषा के आर-पार देखने और दिखलाने में सक्षम होने के कारण ही कविता की इतनी महिमा है। इसी महिमा के बल पर कविता अर्थ के पार संवेदना तक की यात्रा गुपचुप करती रहती है। यह सच है कि भाषा का इकहरी होना शुभ नहीं है। हमारे समय की बिडंबना यह है कि भाषा का बहुअर्थी होना उसे इकहरेपन की चपेट में आने से बचा नहीं पा रहा है। असल में भाषा के इकहरेपन का संबंध उसकी ध्वनन क्षमता के छीजने से है। भाषा में कोलाहल बहुत है। कोलाहल से उसके अंदर भ्रांति का भारी कोहराम मचा हुआ है। भाषा में कोहराम के बसाव की प्रक्रिया हमें भाषा

की सामाजिकता को समझने का उत्साह और उसकी राजनीति को समझने की चुनौती देती है।

अकेलेपन की विडंबना के आकार ग्रहण करने में जन को अवहेलित कर चलनेवाली राजनीति का अपना योगदान होता है। साथ ही, जन के संवेदनात्मक सरोकार के बदले निर्लिप्त एवं निस्संग किस्म के पर्यवेक्षणात्मक एवं सैद्धांतिक निष्कर्षों को साधकर सृजन-प्रेरित होने की प्रवृत्ति से भी साहित्य के सरोकारहीनता में और भाषा के भ्रांति के दलदल में फँसते चले जाने का दुश्चक्र विकसित होता है। इसलिए, साहित्य में सरोकारहीनता के बढ़ते प्रभाव में समाज में सरोकारहीनता के बढ़ते प्रभाव को भी लक्षित किया जाना चाहिए। संदेह, संदेह की तर्कशील जाँच, गहन तार्किकता, हर प्रकार की संभव समानता, जाति-नस्ल-रंग-लिंग-धर्म आदि से निरपेक्ष मानवाधिकारों के प्रति विशेष आग्रह एवं अनुराग, व्यापक अर्थ की वैज्ञानिक एवं बुद्धिवादी सोच आधुनिकता के प्राणाधार हैं। इन प्रणाधारों के सहमेल और सातत्य को बनाये और बचाये रखने में राजनीतिक और उससे भी अधिक सामाजिक संघर्ष और संवाद की प्रक्रिया का अपना महत्त्व है, इस पर विभिन्न तरीकों से घात किया जा रहा है, इनकी सार्थकता को ही प्रश्नांकित किया जा रहा है। संशय को पहचानना और उन्हें समंजित करना स्वाभाविक प्रक्रिया है। अस्वाभाविक है संशय को पहचानकर समंजित करने के बदले संशय को अर्थ और अभिप्राय से संयोजित करना --- संशयोजित (संशय+संयोजित) करना।

असल में भाषा ज्ञान-प्रसार, भाव-प्रसार, संवेदना-विस्तार, प्रचार, अभिव्यक्ति और मनोरंजन का साधन मात्र न होकर सामाजिक रचाव का औजार होती है। इसका कोई विकल्प नहीं होता है। भाषा की समग्र भूमिका को ध्यान में रखा जाये तो भाषा के समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा मानवशास्त्र में श्रम-पूँजी और धन-पूँजी से लेकर मेधा-पूँजी तक के समावेश को भी हम सहज ही लक्षित कर सकते हैं। भाषा सामाजिकता और सभ्यता का पोशाक नहीं त्वचा है। भाषा समाज और सभ्यता के एक बिंदु पर होनेवाली हलचल की सूचना और संवेदना सामाजिकता और सभ्यता के बौद्धिक-संकाय तक पहुँचाती है। भाषा सामाजिकता की जीवनी शक्ति और सौंदर्य-शक्ति को भी सुगठित और संरक्षित करती है। लक्षित किया जा सकता है कि कैसे एक भाषा के गर्भ में पलती हुई दूसरी भाषा उससे बाहर निकलकर एक नये भाषिक प्रस्थान की संभावना रचती है और कैसे एक सामाजिकता के गर्भ में संपोषित होकर दूसरी सामाजिकता नये सामाजिक परिगठन का प्रारंभ करती है। सामाजिकता और सभ्यता के विलगाव के साथ ही भाषा का विलगाव भी होता है। भाषा का लोप या प्रयोग-च्युत होना किसी-न-किसी सभ्यता और सामाजिकता के निजत्व के स्थगित, लुप्त और प्रयोगबाह्य हो जाने की भी सूचना करता है। त्वचाहीन शरीर न तो सुरक्षित रहता है, न सुगठित और न बहुत देर तक जीवित ही रह पाता है। सभ्यता और सामाजिकता की विकासधारा और भाषा की विकासधारा का ऐतिहासिक प्रवाह साथ-साथ ही गतिमान रहता है और दोनों को एक दूसरे के परिप्रेक्ष्य एवं

संदर्भ में ही समझा जा सकता है। भाषा का उद्देश्य प्रकाशन होता है। विडंबना ही है कि भाषा का उपयोग गोपन के लिए भी कम नहीं होता है। भाषा के अंदर भ्रांति के लिए बड़ी जगह बनना एक खतरनाक संकेत है। इस खतरा से बचाव में सामाजिक एवं सामूहिक सांस्कृतिक प्रयास मददगार है। क्या हमारा साहित्य हमारी भाषा की ध्वनन क्षमता को बचा पायेगा! या फिर दूसरे शब्दों में विनोद कुमार शुक्ल की बात-- 'कविता - मैंने आप से कहा।/ जो सुनाई देती है वह प्रतिध्वनि है/ जिसे मैंने आप से कहा'--- को याद करते हुए अपनी ध्वनि की ही प्रतिध्वनि सुनता रहेगा! तुलसीदास के सिर धुनि गिरा लागि पछिताना के हाहाकार में ही पड़ा रहेगा! उम्मीद की जानी चाहिए कि हमारा साहित्य संवेदनाओं के औपनिवेशीकरण से लड़ते हुए हमारी भाषा की ध्वनन क्षमता को अंतत: अवश्य ही बचा लेगा।